साहित्य एवं राजनीति

मानव मन की सम्पूर्ण चेतना उसकी सुख एवं दुःख की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया है एवं दुःख की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया है एवं उसकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में निहित है ।

किसी अच्छी बात को सुनकर या किसी अच्छी चीज को देखकर यदि मन आनन्दित होता है तो यह आनन्द की अभिव्यक्ति कही जा सकती है ।

हमारा वही मन किसी को कष्ट पाते देखकर द्रवित होता है तो यह हमारे दुःख को महसूस करने की प्रक्रिया को दुःख की अनुभूति कहा जा सकता है इस प्रकार की अनुभूति आन्तरिक होती है व अभिव्यक्ति बाह्य प्रक्रिया होती है ।

इस अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के फलस्वरुप हम अपने कार्यों को प्रकट करते हैं एक सुन्दर बालक को देख कर हम उसे अपनी गोद में उठा लेते हैं प्यार करते हैं उसका भोलापन हमें संतुष्ट करता है सुखानुभूति की प्रक्रिया भाषा के माध्यम से स्पष्ट होती है । भाषा का लिपिबद्ध स्वस्थ उसे स्थायित्व प्रदान करता है ।

साहित्य की व्याख्या के लिए हमें साहित्य के स्वरुप अर्तात वाह्य आकृति एव गुण की व उद्देश्य आश्चन्तर पक्ष का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है ।[1]

साहित्य क्या है यह सवाल हमारे सामने दो रुपों में आता है एक तो अपने रुप की ओर साहित्य हामरे ध्यान को खींचता है दूसरें उद्देश्य की ओर ।

साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध भाषा की अभिव्यक्ति के लिए व्यवहरित हो सकता है ।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है जो दूर तक ठीक है परन्तु अन्ततः साहित्यकार ही साहित्य का विषय है उसका समाज नहीं, कौन सी चीज साहित्य बनेगी वह साहित्यकार की अनुभूति की तीव्रता उसके व्यक्तित्व की परिष्कृति तथा उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा की अभिव्यंजना शक्ति पर ही निर्भर है अनुभूति भी साहित्य में यों ही नहीं आती है उसको लेकर कवि के मन में जिस प्रतिक्रिया का जन्म होता है वही काव्य का विषय बनती है ।[2]

प्रत्येक कवि के सोचने समझने का अलग-अलग ढंग होता है यह आवश्यक नहीं है कि एक ही प्रकार की भावना एक ही समय पर सभी कवियों के हृदयों में उठा । वह जो देखता है वह नहीं उसकी अंतहरि कल्पना और संभावना का संसार ही उसका विषय है ।[3]

''कवि और काव्य समाज और संस्कृति से अभिन्न रुप से सम्बन्धित होते हैं जिनमें उनका जन्म होता है इसी लिए काव्य अथवा साहित्य के द्वारा हम युग चेतना तथा संस्कृति तक पहुचने का उपक्रम करते हैं ।[4] कवि जो भी कुछ देखता है समझता है उसे उसके परिमार्जित स्वरुप में प्रस्तुत करना चाहता है ।''कोई भी काव्य विशुद्ध काव्य नहीं होता है क्योंकि उसमें लक्षित या अलक्षित रुप से समाज और संस्कृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण संपुटित रहता है ।[5] साहित्यकार जो कुछ भी समाज और संस्कृति को ध्यान में रखकर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से अपनी सोच को सामान्य जन तक पहुँचाए, वह ही साहित्य होता है । कई बार वह किसी बात से असहमत होता है पर वह असहमति भी महत्वपूर्ण होती है'', इनका अस्वीकार भी एक दृष्टिकोण ही कहा जायेगा ।[6] कहा गया है तुलसीदास श्रेष्ठ कवि थे तो फिर उनके लिए यह कहा जा सकता है -''श्रेष्ठ कवि व्यापक जीवन भूमिका के कवि होते हैं और वे अपने काव्य में धर्म दर्शन नीति राजनीति अथवा समाजनीति को आत्मसात् करते हुए चलते हैं वे मानव चेतना को[7] समग्रता में ग्रहण करते हैं क्योंकि न मानव जीवन को खण्डों में बाँटा जा सकता है, न मानव चेतना को -

सार्वभौम चेतनाओं व्यापक मानवता के कवि थे । और वही उनके साहित्य में हर ओर दिखाई पड़ता है ।

साहित्य अपने आप में सम्पूर्णता लिए हुए होता है किसी देश का साहित्य उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करता है वहां के लोगों की क्रिया-प्रतिक्रिया ही नहीं उनकी आस्था-अनास्था यहां तक कि उनकी सामाजिक धार्मिक राजनैतिक आर्थिक सभी दशाओं अथवा अवदशाओं का सम्पूर्ण विवरण हमें उस स्थान के साहित्य में प्राप्त होता है उसमें जाति की सम्पूर्ण इतिहास चेतना निबद्ध होती है ।[8]

जिस प्रकार समाज को अपनी क्षुधातृप्ति, शारीरिक विकास एवं प्राणरक्षा के लिए भोजन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उसे अपने मानसिक पोषण तत्परिणामस्वरुप उसके विकास तथा रिन्तर शयानन्द की प्राप्ति हेतु साहित्य रुप भोजन भी अनिवार्य होता है ।[9] कवि अपनी रुचि के अनुसार अपने साहित्य का सृजन करता है । उसकी अपनी कलम देशकाल परिस्थिति की अवस्था बदलने में समर्थ होती है । किसी भी समय में, विपरीत परिस्थिति में, कवि अपने काव्यों की अव्यिक्ति करते हुए समय को अनुकूल बनाने में समर्थ होता है। उसमें उसका सहायक साहित्य ही होता है । जैसे-सात्विक, राजस और तामस आहारों का पृथक्-पृथक् सेवन करना हमारे ऊपर एक सा प्रभाव नहीं डालता उसी प्रकार साहित्य भी इन विविध विशेषणों से युक्त होने पर हमारा मानसिक विकास और उसका परितोष भिन्न-भिन्न प्रकार से करता है ।[10] अर्थात सत्साहित्य से पोषित मस्तिष्क सदैव अभ्युदयोन्मुख होता है और उसके विपरीत असद्साहित्य पोषित मस्तिष्क पतनोन्मुख।[11]

अतः यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि किसी भी देश के उत्थान या पतन में वहां के साहित्यकारों व उनके द्वारा रचित साहित्य का योगदान महत्वपूर्ण होता है । ''किसी देश या राष्ट्र के उत्पापकर्षक में राजनीतिक और धार्मिक शक्तियों का जो हाथ रहता है उससे कही

बढ़कर प्रभुत्व होता है-साहित्यिक शक्ति का ।[12]

वैसे देखा जाए तो साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध भावाभिव्यक्ति के लिए व्यवहृत हो सकता है ।[13] साहित्य अपने आप में विस्तृत धरातल लिए हुए होता है । उसे चार शब्दों के घेरे में बान्धा नहीं जा सकता है । हम अपनी आँखों से जो कुछ भी देखते हैं उस सभी कर लिपिबद्ध विस्तरण साहित्य कहा जा सकता है इसलिए साहित्य अथाह सागर की तरह है जो अपनी गहराइयों को अपने अन्दर ही समेटे हुए अपने आप को सीमित दायरे में प्रदर्शित तो करत ाहै परन्तु सच्चे साहित्यकार उसकी व्यापकता को जानते हैं ।

कहा गया है -

''ज्ञान-राशि के संचित कोश का ही नाम साहित्य है ।''[14]

यह साहित्य की सच्ची परिभाषा कही जा सकती है, क्योंकि ज्ञान भी असीमित होता है उसी तरह साहित्य अपने आप में बहुत कुछ समेटे हुए होता है । वह भूतकाल व वर्तमान काल तथा भविष्यकाल सभी की धरोहरों को एक परिष्कृत स्वरुप प्रदान करने में समर्थ होता है ।

साहित्य में समसामयिक चेतना एवं शाश्वत चेतना का संगम एक अनिवार्यता है । युग सापेक्षता के सन्दर्भ में साहित्य अपने समाज के अतीत एवं भविष्य दोनों से ही समान रुप से सम्बन्धित है समाज का अतीत उसे ऐतिहासिक दृष्टिबोध प्रदान करता है तो वर्तमान उसे राजनीतिक दायित्व एवं चेतना से सम्पृक्त करता है । अतीत एवं वर्तमान का विश्लेषण ही भविष्य दर्शन की रुप-रेखा का आंकन होता है जो हमें साहित्य के अध्ययन से ही प्राप्त होता है ।

साहित्य को समाज के होने वाले क्रिया कलापों के प्रतिबम्बं के रुप में दिखाया गया है इसीलिए साहित्य को 'समाज का दर्पण'

कहा गया है ।[15]

भारतीय चिन्तन और परम्परा के अनुसार कवि अपने व्यक्तित्व को जनजीवन में तदाकार कर देता है । उसको अपने पृथक् अस्तित्व या व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रहता । लोक मानस ही उसका मानस बन जाता है । भक्तिकाल के कवियों ने तो अपने आपको जनजीवन में पूर्णतया विलीनकर दिया था । अतः उनका साहित्य पूर्णरुपेण समाज का दर्पण ही होता है, उसमें तनिक भी बनावटीपन नहीं होता है, उसमें किसी भी प्रकार की यश लिप्सा नहीं थी,[16] क्योंकि जिस प्रकार साहित्य रचा जायेगा वह वैसे ही संस्कारों को समाज तक पहुँचायेगा।

वैदिक काल से ही राज्य में होने वाली घटनाएं साहित्य में पूर्णरुप से प्रतिबिम्बित पायी जाती है । प्रजा राज्य के आधीन होती है, काव्य या साहित्य उस काल की राजनैतिक घटनाओं से ओतप्रोत होता है । जिस काल मे उसकी रचना हुई होती है ऐसा कहा गया है कि "कालोवा कारण राजा" राजावा कालकरणं इति ते अंशयो महाभूत राजा कालस्य कारणं, अर्थात-

समय राजा का कारण है या राजा ही समय बनाता है । विद्वानों का कहना है इसमें किसी संशय की बात नहीं है । राजा ही समय का कारण है, जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है वैसा ही उसका राज्य बनता है राजा कायर या डरपोक है तो प्रजा भी शिथिल होती है ।

वीरगाथा काल में वीरतापूर्ण शौर्यप्रदर्शन हुआ करते थे जिसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा । अतः उसकाल के साहित्य को ही वीरों की गाथा का नाम दिया गया । शुकनीति के अनुसार राज्य की चल-अचल सम्पत्ति राजा के अधीन होती है । इसीलिए उस राज्य की सृष्टि को राजा का राष्ट्र माना जाता है ।[17]

यदि हम गोस्वामी तुलसीदासजी के साहित्य में राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो हम उसका कथा विन्यास राजनीति से प्रभावित दिखाई

देती है । सम्पूर्ण तुलसी साहित्य में रामकथा के माध्यम से इस देश की राजनीति का जितना सजीव चित्रण हुआ है उतना अन्यत्र नहीं मिलता है । राम के वनवास, चित्रकूट, की सभा, अगस्त, राम बालि संवाद, हनुमान, सुग्रीव, अंगद के कार्य एवं चरित्र, रावण की राज सभाओं, विभीषण की शरणागति, हनुमान जी का अयोध्या भेजा जाना, आदि प्रसंगों में राजनीति की सुन्दर झाँकियाँ मिलती है ।

अग्रवाल जी का कहना है मानस में नीति व राजनीति दोनो ही भक्ति से परिचालित हुई हैं ।[18]

भटनागर जी ने यह जोर देकर कहा है कि मानस में राजनीति का स्थान धर्म ने ले लिया है ।[19] कुछ आलोचकों ने यह बी कहना शुरु कर दिया कि तुलसीदास जी ने मुगलों से पराजित हिन्दु जातियों में राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने का प्रयास किया है ।

आदर्श राज्य क्या होता है, राजा कैसा होना चाहिए मंत्री किसे कहते हैं, दूत के क्या लक्षण हैं, सभा कैसी होती है, यह सब कुछ तुलसी साहित्य में देखा जा सकता है ।

तुलसीदासजी जानते थे कि सभ्यता के विकास और उसकी इतिहासकी कहानी में परिवार को निर्माण मानव की पहली व्यवस्थात्मक कल्पना है । इसकल्पना को साकार स्वरुप प्रदान करने के निमित्त वह व्यवस्था व निर्माण के पथ पर तेजी से अग्रसर होने लगा । मानव-मानव के बीच प्रेम व सद्भावना, भाईचारा और न्याय तथा भौतिक अधिकारों की रक्षा के लिए परिवार ने जो व्यवस्था की और जिन नियमों का सृजन किया । मूल रुप में वे ही नियम राज्य, देश और राष्ट्र के नियम बने ।[20] जिस प्रकार परिवार में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अन्तर नही होता है उसी प्रकार देश में मानव-मानव के बीच अन्तर नही होता है । इस प्रकार परिवार के समान ही समाज व राज्य व राष्ट्र में सभी को सुख प्राप्त हो, यही भावना मूल मानी जाती है ।

सभी शान्तिपूर्वक भाई चारे के साथ स्वमान से जी सकें यही देश व राष्ट्र का मूलभूत सिद्धान्त होता है । क्योंकि इस प्रकार मानव के ईश्वर प्रदत्त मौलिक अधिकारों की रक्षा राज्य, देश और राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य होता है । जीवन की सुरक्षा का अधिकार स्वतंत्रता और सुख की खोज का अधिकार अभिव्यक्ति और व्यापार का अधिकार मानवोचित न्याय का अधिकार आदि की रक्षा के लिए सरकारें बनाई जाती हैं, जिनकी शक्ति जनता में निहित होती है ।[21] यही सरकार राजा का नवीनतम स्वरुप है । प्राचीन काल में राजाओं के द्वारा शान किया जाता था, परन्तु सदैव जनता के हितों को प्राथमिकता दी जाती थी, क्योंकि यह सत्य है कि जब तक जनता के अधिकार सुरक्षित रहते है तब तक जनता सरकार या राजा की तरफदारी करती है, किन्तु जब इन अधिकारों पर आघात होने लगता है उस समय जनता सरकार को बदलने का प्रयत्न कर नयी व्यवस्था चलाती है।[22] इसी बात को हर काल में ध्यान में रखा गया है व आगे भी सदैव रखा जायेगा क्योंकि इसी क्रम से राज्य या राष्ट्र के भौतिक उत्थान के लिए शासन और राज्य प्रणाली का निर्माण होता है और उसमें परिवर्तन परिवर्द्धन होते रहते हैं ।[23]

राजा व राज्य सरकार की आवश्यकता इसलिए भी है कि मानव मन लिप्सा, हिंसा, अन्याय और पतन की ओर शीघ्रता से बढ़ता है मनुष्य का जीवन स्वतंत्रता, सम्पत्ति और धर्म सभी के बिना नहीं चल सकता है, उन्हें उसे इन सभी बातों की आवश्यकता होती है यदि उसे बन्धन में नहीं रखा जाय तो हमें 'मत्स्यन्याय' ही चारों ओर दिखाई देने लगे ।

'परस्परं भक्ष्यन्तो मत्स्या इव जले कृशान' कह कर महाभारत में स्पष्ट किया गया है यदि शासन व्यवस्था सुचारुरुप से न चले, हर सक्षम व्क्ति अपने से छोटे व्यक्ति के अधिकारों का हनन करते हुए अपने स्वार्थों की पूर्ति में ही संलग्न रहे केवल जो कुछ भी श्रेष्ठ है वह मेरा है उस पर केवल मेरा ही अधिकार हो सकता है, यह भावना लेकर चले तो देश पतन के गर्त में गिर जायेगा, घोर

अराजकता की स्थिति का निर्माण होने के बाद सब कुछ नष्ट होते हुए विनाश होने लगेगा । अतः इस स्थिति से उबरने के लिए तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस में अयोध्या की व मिथिला की शासक व्यवस्थाओं का परिचय वाल्मीकि रामायण के आधार पर दिया है। अपस्तम्ब के धर्मशास्त्र, कोटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्र के नीतिसार, अनुस्मृति, महाभारत और अथर्ववेद आदिग्रन्थों में राजा, राज्यव्यवस्था, गणतंत्र और उसकी व्यवस्था आदि राज्य प्रजातियों और उनकी कार्यविधि का सविस्तार उल्लेख मिलता है ।[24]

भारतवर्ष एक प्राचीन देश है यहां पर प्राचीन काल से अभी तक जनता विभिन्न राज्यों, राष्ट्रों व धर्मों के शासको के आधीन रही है, हर शासक ने अपने मनमाने ढ़ंग से शासन किया है । कुछ लोगों ने अपने आपको इतिहास के पृष्ठों में सर्वश्रेष्ठ राज्य के रुप में प्रतिस्थापित करने का भी प्रयास किया, तो कुछ लोगों को दुर्जन की संज्ञा भी मिली । इतने विशाल भारतवर्ष का उल्लेख अनेकों धर्मग्रन्थों में उपलब्ध है ।

विष्णुपुराण में भारत का वर्णन आया है जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में स्थिति है उसका नाम भारतवर्ष है ।[25] विष्णुपुराण ही नहीं ब्रह्मपुराण में भी यही बात बतलाई गई है । भारत के इन प्राचीनतम साहित्य के रुप में वेदों की गिनती होती है ।

भारत एक वेदपाठी देश कहा जाता है, उन्हें वेदों में शासन व्यवस्था की अनेक पद्धतियां दृष्टिगोचर होती है । ये पद्धतियां तीन हैं -

1. समिति 2. सभा 3. विदथ ।[26]

हमें वेदों से पता लगता है कि अतिप्राचीन काल में राष्ट्रीय जीवन और गतिविधियों, लोकप्रिय सभाओं और समितियों द्वारा अभिव्यक्त होती थी । हमारे पूर्वजों की सबसे महान संस्था समिति थी । समिति सम्पूर्ण जनता-विशः, याने के सारी जनता एक साथ एकत्र होकर अपनी

सहमति प्रकट करे वही कार्य समिति करती थी ।

सम्पूर्ण जनता व समिति को एक दूसरे का विकल्प बतलाया गया है जो राजा का निर्वाचन अथवा पुनःनिर्वाचन करती थी ।[27] उस काल में भी राष्ट्रीय सभा थी, जिसमें ग्रामों के प्रतिनिधि, ग्रामणी, सूत, रथकार और शस्त्र निर्माणकर्ता अनेक कारीगर इकट्ठे होते थे, जिन्हें अपना मत देने की पूर्ण स्वतंत्रता थी ।[28]

उस काल में आर्यों की सर्वप्रधान संस्था के रुप में प्रतिस्थापित थी । सभी राजकीय प्रश्नों पर विचार करना, निर्णय देना औड़ नीति निर्धारित करना इसका कार्य था क्योंकि उस काल में यह स्पष्ट था कि यदि उनकी सम्मति नहीं हुई तो राज्य छीन लिया जाता था । अतः राजा के लिए यह आवश्यक था कि उसकी प्रजा उससे संतुष्ट रहे और क्लेश नहीं पावे । जिस राज्य में विद्वानों व संतों का अपमान होता है वह राज्य स्वतः ही नष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार सभा व समिति के बारे में मत होते हुए भी सभी बातों का मूल उद्देश्य यही था कि किसी भी राजा के शासन काल में प्रजा उससे संतुष्ट रहे व सुखी व प्रसन्न रहे और इसी मूलमंत्र की प्राप्ति हमें राजा राम के शासन काल में होती है ।

सबा-इस शब्द को उस समूह के परिचय के हेतु प्रयुक्त किया जाता था जहां पर वे सभी प्रकाशमान हों, अर्थात वह समूह जिसमें सब लोग एख साथ मिलकर प्रकाशमान हों । सभा में जाने वाले लोग विशेष सम्मानित व्यक्ति माने जाते थे ।

सभा का प्रधान अधिकारी सभापति कहलाता था सारी सभा उसके आदेशों का पालन करती थी । प्राचीन वेदों में उनके गुणों पर प्रकाश डाला गया है । उनका ज्ञानी होना नितान्त आवश्यक है, उनका धनवान होना भी आवश्यक है धनवान का तात्पर्य यहां पर धन के महत्व को जानने वाले से है क्योंकि जो स्वयं धन की महत्ता को, उस के सदुपयोग को नहीं जानता होगा वह दूसरों को क्या समझा

सकता है ।

पराये दुःख को याने दूसरे के रोगों वैयक्तिक, सामाजिक व राजकीय परेशानियों को दूर करने वाला,सभी को पोषण करने वाला हो, आलसी न हो यानी हर कार्य को प्रसन्नता व स्फूर्ति के साथ करने वाला, धैर्यवान यशस्वी, कीर्तिमान, सबका हितेषी, सबको सन्मार्ग पर ले जाने वाला सर्वप्रिय और अन्नदान करने वालों का हितेषु होना चाहिए ।[29]

अथर्ववेद में उल्लेख है कि जो राजा प्रजा के अनुकूल होकर राज्य शासन करता था उसको सभा, समिति, सैन्य और धनकोष अनुकूल हुए जो ह बात जानता है वह सभा समिति सैन्य व धनकोष का प्रिय धाम बनता है ।[30]

सभा व समिति के विषय में अलग-अलग मतान्तर है । सभा ज्येष्ठ पुरुषों का ऐसा निकाय था जो न्याय प्रशासन करता था और समिति युद्ध और शान्तिकाल में सम्पूर्ण जनता का सम्मेलन था । ऐसा वधोपाध्याय का मत भी ऐसा ही है । इसी प्रकार जायसवाल का भी यही मन्तव्य है ।[31]

सम्भवतः यह चयन किये गये मनुष्यों का एक स्थायी और संविधात्मक निकाय था जो समिति की सत्ता के अधीन कार्य करता था सभा का शाब्दिक अर्थ एक साथ चमकने वाले मनुष्यों का निकाय है । उसमें जिन्हें सम्मिलित किया उन्हें विशेष चमक प्रदान की जाती थी और वे विशेष आदर के पात्र थे । सभा व समिति के महत्व तथा अधिकार विषयक अथर्ववेद में फिर यह भी कहा गया है कि किस भावसमिति ये दोनों प्रजापालक राजा द्वारा पूत्रीवत पालन करने योग्य है और प्रार्थना की गई है कि वे परस्पर एक मत्य करती हुई । राजा की रक्षा करें । सभा के जिस सदस्य से मिल और राष्ट्र शासनं के शासन में सम्मति मांगू उस विषय में वह दतचित्त होकर योग्य राष्ट्रहित कर सम्माननीय सदस्यों में योग्य सम्यभाषषण करने इसका तुम्हारा नाम नरिष्ठा सभी को विदित है अर्थात नरैः इष्टा जनता को इष्ट है

क्योंकि राजा प्रजा के कष्टों को सभा के द्वारा ही जान पाता है। समिति में राजा का रहना अनिवार्य । यदि राजा समिति में उपस्थिति न हों तो उसे अविश्वासी माना जाता था । सम्पूर्ण जनता के ब दले समिति राजा का निर्वाचन करती थी ।[32] फिर उन्हें दूर करने की चेष्टा करता है अथवा बहुत सारे लोगों के द्वारा निर्णय होने का कारण जो अनुलंछनीय है अथवा नरिष्ठा जो हिंसक है जो प्रजा का नाश नहीं करती है और जनमत के असार चलने वाले राजा का भी नाश नहीं करती ऐसा सभा की अनुमति के अनुसार कार्य करने के कारण में भाग्यवान बनूँ । वस्तुतः राजा का सम्पूर्ण भाग्य ऐश्वर्य अधिकार और वर्चस्व सभा की अनुमति से ही होता है ।

सभा और समर्पित पुत्रीवत है अतः दोनों स्वतंत्र है और नियन्त्रण से बाहर है अतः सभासद प्रदर्शित करने के लिए राजा से भयभीत नहीं और एकगत सर्वसम्मति से ही सब राष्ट्र का शासन व्यवहार करें ऋग्वेद में भी यही पुष्टि होती है उसमें कहा गया है । सभा समिति के सदस्य परस्पर सहयोग से कार्य करे उनके मन एक हों उनकी वाणी एक हों उनका विचार विमर्श एक हों समान हों और वे एक ही नीति का निर्धारण करें ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने सभा राजसभा पांचहि समाज आदि शब्दों का अपने रामचरित मांनस व अपने अन्य ग्रन्थों सभी में अनेकों स्थानों पर आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है जिसमें ब्राह्मण महाजन तथा सचिव प्रजा के प्रतिनिधि समय-समय पर एकत्र होते हैं, और प्रश्तुत विषयों पर सम्मति व निर्णय देते हैं । राम के यौवराज्याभिषेक हेतु राजा दशरथ वसिष्ठ जी के समय अपना मन्तव्य रखते हैं कि यदि आपका आदेश हो तो सभा का आयोजन किया जाय ।[33]

गुरु वशिष्ठ अपनी सहमति प्रकट करते हैं व शीघ्र ही समाज जुटानें की आज्ञा देते हैं ।[34] एवं उनकी आज्ञा मानकर राजा दशरथ, सेवकगण, मंत्रिगण तथा सुमन्तों को बुलाकर गुरुजी का प्रस्ताव सुनाते हैं उनसे कहते हैं कि पांचहि प्रजा के प्रतिनिधियों को रुचिकर लगे

तो राम को युवराज पद पर अभिषित किया जाय उनकी यह बात सभी को बहुत उचित लगी सभी ने राजा दशरथ की लम्बी आयु की प्रार्थना करते हुए इस कार्य को जो कि सम्पूर्ण जगत के लिए मंगलकारी व श्रेष्ठ है शीघ्रातिशीघ्र करने की प्रार्थना की ।[35]

यदि हम उपरोक्त बातों का विवेचन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायेगा कि तुलसीदास जी ने प्रथम वेदाध्ययन किया था उसी के बाद उनमे निहित नीतियों का पालन अपने मानस में किया है । अतः रामचरित मानस की राजनैतिक दृष्टि से अद्ययन करने के लिए उसके आधारों का अध्ययन आवश्यक महसूस होता है । क्योंकि दशरथ जी ने सदैव अपने शासन काल में गुरुजन सभा प्रजा सचिव सभी में मंतव्यों को हम ध्यान में रखा है । राजा दशरंथ के अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात उत्तराधिकार का प्रथम तय करने के लिए भी सभा जुटाई जाती है ।[36]

उसी समय सभी ने भरत को निकट बैठा कर नीतियों धर्म सम्मत वचन कहें व भावी प्रबल होती है परन्तु तुम शोक को दूर कर प्रजा का पालन करो क्योंकि यह बात वेदविदित है ।

सभी (यहां पर सभी शब्द सभा व मंत्रीगण व महाजनों आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है) की सहमति है कि जिसे पिता राज्य देता है वही सिंहासन पर आरुढ़ होता है यहां पर भी मंत्रियों ने गुरु आज्ञा का ही समर्थन किया भरत पुनः कहते हैं कि प्रजा मंत्रिगण तथा गुरुजनों की सहमति से आपने मुझे श्रेष्ठ उपदश दिया है परन्तु वह मेरे हित में नहीं है ।

चित्रकूट, अवधपुरी, जनकपुरी सभा जगहों पर कई - सभी को सभा भरते हुए या गोष्ठी करते हुए दिखाया है ।[37]

गुरु पद कमल प्रनामु करि बैठे आयुज पाई ।
विप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आई ।।

इन सब बातों का अध्ययन करने से यह ज्ञान होता है कि उस काल में रामराज्य राजतंत्र का शुद्ध रुप था, वहां मनमाना शासन नहीं चलाया जाता था ।[38] वह लोक तंत्रात्मक था । प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतंत्रता का उपयोग करता था, क्योंकि हमें राम वनवास के अवसर पर सामान्य स्त्री पुरुष भी रानी कैकई की कटु आलोचन करते हुए दिखाई देते हैं ।[39] वहां पर उनको यह भय नहीं था कि हमे राजा की ओर से प्रताड़ना मिल सकती है या हमारा अहित हो सकता है ।

रामचरित मानस के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी लोकमत के प्रबल समर्थक है उन्होंने अनेक सीनों पर लोकसम्मत मार्ग का अवलम्बन करने को कहा है -

मुनि महाराज राम से भरत की विनय सुनने को कहते है-

कर वसा धुमत लोकमत नृपनयनि गम निचोरि-[40]

तब साधुमत, लोकमत, राजनीति एवं वेदों का निचोड़ जो भी हो वही कर्तव्य कीजिए यहां पर भी सभी बातों में लोकमत की महत्ता स्पष्ट हो जाती है ।

वन से लौटने पर भी श्रीराम राज्य सिंहासन पर आरुढ़ हुए एक दिन उन्होंने सभा का आयोजन किया इसमें उन्होंने पुरवासियों को 'भाई' कहकर सम्बोधित किया है -

जो अनिति कछु भाषउ भाई, तो मोहि बरजहु भय विसराई ।

हे भाईयों यदि मैं कुछ अनीति की बात कहु तो निर्भय होकर आप लोग मुझे रोकना -

लोकमत का इसमें बड़ा उदाहरण हम कह सकते हैं । राजा और प्रजा के बीच ऐसे आत्मीय सम्बन्धों का मिलना बहुत बड़ी बात कही जा सकती है दोनों का सम्मिलन उचित परामर्श एवं कार्य

पर ही राजा का अभ्युदय निर्भर है ।[41]

लोकमत के अलावा हमें राजनीति के आधारों को भी नहीं भूलना चाहिए ।

राजनीति के सर्वप्रथम आधार के रुप में धर्म का स्थान माना जाता है उसके बाद - साम, दाम, दण्ड, भैद, युद्ध नीति के आधार नीति सम्बन्धीं अन्य बातों का समावेश किया जाता है । सर्वप्रथम धर्म को हमारे प्राचीन काल से ही सर्वोपरि सत्ता के रुप में प्रतिस्थापित किया गया है - उस समय से आज तक का विश्लेषण किया जाय तो प्रत्येक कार्य धर्म से सुशासित रहा है ।[42] यह सत्य है कि राजनीति भी बिना र्ध के आधार लिए नहीं चल सकती है ।

प्राचीन काल में इतिहास में दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारत में राजा भी धर्म से बन्धा हुआ था । उसका व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धित होता था ।[43]

राजा की दैनिक दिनचर्या भी धर्म के आधी होती थी । धर्म का अर्थ है व्यवस्था अर्थात मर्यादा । धर्म वह है जो व्यक्ति और समाज को धारण करे उसका पोषण व संवर्द्धन करे । रामचन्द्रजी के रुप में तुलसीदासजी ने धर्म की परिपूर्णता की ही कल्पना की है और उनके अन्तर्जीवन एवं लोकसंग्रही कार्यकलापों को मर्यादा में बान्धा है विरति और विवेक उनके लिए धर्म के प्राण है जहां मेरा तेरा और मर्तव्याका अभिमान है वहां धर्मशील होना असंभव बात है ।[44]

इसीलिए विद्वान लोग अपने जीवन में होनेवाली हर अच्छी बुरी घटनाको -

हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ कहकर उस ईश्वर की व्यवस्था में [45] अपनी सहमती प्रकट करते हैं और एकदृष्टा बनकर जीना चाहते है क्योंकि यह अपने विवेक को जागृत करना चाहते हैं । विवेक जागृत होने के पश्चात ही व्यक्ति धर्म अधर्म के

भेद को समझ सकता है । राम व रावण रामराज्य व रावणराज्य (कलियुग) मुक्तित्व भवके रुप में महाकवि तुलसीदासजी ने धर्म व अधर्म के सत्य को ही चित्रित किया है राम यदि केवल निर्गुण ब्रह्म के रुप में कल्पित होते तो उन में धर्मदृष्टि का आरोप असंभव था क्योंकि तब वह परात्पर सत्ता होते परन्तु तुलसी ने उन्हें अवतारी (दशरथ) रुप में चित्रित कर उनमें मानव की सम्पूर्ण संभावनाए भर दी है नैतिक और आध्यातिमक भूमिकाओं का सर्वोच्च उनमें चारितार्थ कर दिया गया है राम का पुरुषोत्तमत्व उन्हें कर्म के सर्वोच्चशिखर पर प्रतिष्ठित कर देता है इसी लिए तुलसी ने रामकथा को निर्भीकता पूर्वक धर्म परक सन्दर्भ दिये है उनके चरित्र को धर्म के उदाहरण के रुप में प्रस्तुत किया है ।[46]

राजधर्म अथवा क्षत्रिय धर्म दण्ड नीति अतवा राज धर्म में इसं प्रकार रचा-रहा है वेद-आश्रम त्याग दीक्षा विद्या और लोकप्रजा सब क्षात्र धर्म के सम्यक परि पालन पर ही अवलम्बित है या - धर्म नष्ट हो गया तो न ज्ञान विज्ञान का विकास हो सकता है न मर्यादा स्थिर रह सकती है और न ही प्रजा की रक्षा ही संभव है ।[47] प्रजा पालन का सुन्दर उदाहरण देखने के लिए हमें केवल रामराज्य की ओर ही दृष्टिपात करना होहा, राज्य धर्म क्षेत्र धर्म दोनों का ही समन्वय हमें रामराज्य में दिखाई देता है रामराज्य एक सुन्दर सुव्यवस्थित प्रजा हितकारी राज्य कर प्रतीक बन गया है ।[48] राम का राज्य प्रजा के दुख सुख को अपने दुख सुख से अधिक महत्वपूर्ण समझने था वहां पर पीडासे अधिक पीड़ा दायक कुछ भी नहीं था । राम हर अवस्थामें अपने कर्तव्यों का पालन ही करते रहे सीतावियोग की अवस्था में भी वे सुग्रीव व विभीषण की पीड़ा को अधिक महत्वपूर्ण माना था। इसीलिए राम राज्य में प्रजा धन धान्य से समृद्ध थी । सभी लोग फल फूल रहे थे दूसरी ओर आंधिया व्याधि या विलाप क्रन्दन जैसे कहीं कूच कर गये थे, दुष्टता नारकीयंता, खलता, दस्युत अपना स्थान बनाने में असमर्थ थी क्योंकि सारी प्रजाधर्म परायण थी अपनी मर्यादाओं के बारे में सचेत थी ।[49] तभी तो तुलसीदास जी ने रामचरित मानस

से उत्तरकाण्ड में रामराज्य का भव्य चित्रण किया है जिसे देखकर हमें किसी भी राज्य की सुव्यवस्था की कल्पना हो आती है ।

राम राज बैठे त्रैलोका

रामचन्द्र के राज[50] जिस राज्य की व्यवस्था इतनी सुन्दर सुरुचि पूर्ण हो उसका राजनीतिक अवस्था कितनी सुदृढ़ हो गी उसकी कल्पना कर ना कठिन नहीं है । उस काल में कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्यों से विमुख नहीं था हरव्यक्ति धर्म परायण था और इसीलिए सफलता उनके साथी क्योंकि राजनीति का प्रथम आधार धर्म कहा गया है। शाम दाम दण्ड भेद सी धर्म के साथ साथ चलने वाले होते हैं और इन सबी के साथ होने पर उसमें राजनीति का शुद्ध स्वरुप दिखाई पड़ता है ।

चूँकि तुलसीदासजी कलिकाल की उपज थे उन्होंने उस मुसलमान की दुर्दशा को देखा था जो कि उस कलिकाल की ही देन थी।

तुलसीदासजी ने राजा के महत्व पर उसकी आवश्यकताओं पर भी प्रकाश इसी हेतु डाला था कि लोग राजा का महत्व समझे उन्होंने राज व ईश्वर को समान रुप से महत्व प्रदान किया है । उनके श्री राम पृथ्वी पर गोब्राह्मण तथा निर्बलों के हितार्थ मनुष्यावतार धारण करते हैं ।

गोद्विज धनुदेवहित मारी
कृपा सिंधु मानुष तन धारी ।[51]

तुलसी के मानस में राजा राम का सृजन उन्होंने आस्ति श्रद्धालुजनों के विश्वास हेतु तथा राजनीतिज्ञों के सम्मान हेतु किया था ।

लोकहुवेदसुसाहिब - कोसलराउ [52]

राजा राज्य और प्रजा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है इन सभी में सामञ्जस्य के अभाव में आपसी विरोध में सभी का नाश हो जाता

है प्राचीन ग्रन्थों में अध्ययन के पश्चात यह ज्ञान होता है कि प्राचीन काल के रा सर्व गुण सम्पन्न होते थे । फलतः प्रजा सुखी और राज्य ऐश्वर्यपूर्ण था । महाभारत मे राज सूय यज्ञ के सम्बन्ध में जहां विचार किय गया है उस स्थल से राज्य और प्रजा की स्थिति की झलक मिलती है ।[53] उस काल के आदर्श भी तुलसीदासजी के समक्ष थे ।

उन्होने मानस में प्राचीन वैदिक न - की मान्यताओं के साथ राजा राम को समन्वित कर तत्कालीन राजतंत्र का पतना वस्था के प्रति घोर क्षोक हीन ही प्रकट किया बल्कि राजतन्त्रे नवोत्थान के लिए आदर्श प्रश्तुत कर प्रजातांत्रिक जीवन प्रणाली और शासन अवस्था के प्रति जनता में एक राग का सृजन किया ।[54]

तुलसीदास जी ने सभी शासन प्रणालियों का अद्ययन कर उन के गुणदोषों का विवेचन कर फिर राजतंत्र को मान्यता दी थी क्योंकि यही प्राचीन काल से चली आ रही व्यवस्था थी दूसरी ओर इसी में प्रजा का सुख निहित है ऐसा उनका विश्वास था ।

यों तो अनेक प्रकार की शासन प्रणालियों में कोई न कोई त्रुटि निकाली जा सकती है परन्तु वैदिक राजतंत्र प्रणाली सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती है क्योंकि उस व्यवस्था में शोषण अपहरण उत्पीड़ भयानक युद्ध और अनेक प्रकार की सामाजिक या राजनैतिक व्याधियों के फल ने फुल ने की संभावना न्यून रहती है । व साथ ही जनता के ईश्वर प्रदत्त अधिकारों व राजनैतिक अधिकारों का हनन ही होता है । चूँकि हम मानस का अध्ययन कर रहे है अतः हमें मानस में वर्ति प्रजा को अपने सभी अधिकारों को प्राप्त करते हुए देखना स्वाभाविक है क्योंकि प्राचीन नरेश अपने राजतिलक से पूर्व ही जोप्रतिज्ञायें जनता के समक्ष करते थे उनमें जनता के अधिकारों सरंक्षण भी महत्वपूर्ण होता था ।